

सामुदायिक सहभागिता और शिक्षा

राजाराम भादू

लेखक परिचय :

आगरा विश्वविद्यालय के का.मू. हिन्दी में भाषा विज्ञान संस्थान से लोक संस्कृति एवं भाषा विज्ञान में स्नातकोत्तर डिप्लोमा। विकास अध्ययन संस्थान, बोध और दिगन्तर संस्थाओं के लिए शोध व प्रलेखन, शैक्षिक नवाचार और विकास की वैकल्पिक अवधारणाओं पर अध्ययन, दिशाबोध पत्रिका के संपादक, सेन्टर फॉर कल्चरल एक्शन एण्ड रिसर्च के कार्यकारी निदेशक (मानद)

पुस्तकें : शिक्षा के सामाजिक सरोकार, शिक्षा के संदर्भ और विकल्प (सह-संपादक), आधार प्रकाशन, पंचकूला, हरियाणा

सम्पर्क :

43, हिम्मत नगर, गोपालपुरा बाईपास के पास, जयपुर

सामुदायिक भागीदारी की बात शिक्षा ही नहीं बल्कि अन्य क्षेत्रों में भी जोर-शोर से की जा रही है। इस बहस के दो पक्ष हैं। एक, सामुदायिक भागीदारी को निर्णय प्रक्रिया के विकेंद्रीकरण के आदर्श के रूप में देखा जाता है। दूसरा, राजकीय व्यवस्थाओं में सरकार की असफलता और बेहतर प्रबंधन के अभाव में व्यवस्थाओं की जिम्मेवारी स्थानीय समुदाय को सौंपने की बात की जाती है।

शिक्षा में समुदाय की भागीदारी चुनौतिपूर्ण है। इस लेख में कहा गया है कि एक समस्या ये है कि अभी तक समुदाय की अवधारणा को ठीक से परिभाषित नहीं किया गया है। शिक्षा के संदर्भ में सामुदायिक भागीदारी के मायने क्या हो सकते हैं? शिक्षा में सामुदायिक भागीदारी के नाम पर हो रहे प्रयासों की क्या वास्तविकता है? इन्ही समस्याओं पर इस लेख में चर्चा की गई है।

तीसरी दुनिया के देशों में सामुदायिक सहभागिता का मुद्दा विकास के संदर्भ में बार-बार उभर कर आता है। राज्य द्वारा प्रणीत विकास योजनाओं व कार्यक्रमों में स्थानीय समुदायों की भागीदारी पर काफी जोर रहता है। इसका एक आयाम सत्ता के विकेंद्रीकरण और विकास कार्यक्रमों के नियोजन और क्रियान्वयन में लोकतांत्रिक जन सहभागिता से संदर्भित है। इन दोनों पहलुओं में निष्फलताओं ने जो रिक्ति पैदा की, उसे भरने और विकास प्रक्रियाओं में जन सहभागिता को सुनिश्चित करने के लिए नागरिक समाज (Civil Society i.e. Voluntary Agencies, NGO's) के पहलें सामने आई हैं। इस विकास क्रम में शिक्षा एक अहम घटक रहा है।

प्रारंभिक शिक्षा के सार्वजनीकरण की सफलता में जन सहभागिता को निर्णायक समझा जाता है। लेकिन इस क्रम में हुए प्रयासों को असंतोषजनक माना गया है। हालांकि इस पक्ष पर गंभीर विचार-विमर्श बहुत कम मिलता है। यहां हम उत्तर भारत के शिक्षा संदर्भ में सामुदायिक भागीदारी पर विचार कर रहे हैं। इस पक्ष में पूर्व के गंभीर विमर्शों से इस लेख का परिप्रेक्ष्य निर्मित किया गया है। अंततः हमारा मंतव्य इस ओर ध्यान आकर्षित करना है।

ग्रामीण सामाजिक संरचना और समुदाय

हमारे अनुभव मूलतः ग्रामीण पृष्ठभूमि पर आधारित हैं। गांव की सामाजिक संरचना जटिल और संश्लिष्ट होती है। यहां हम उत्तर भारत के गांव की संरचना पर बात कर रहे हैं। यद्यपि सामाजिक संरचना आर्थिकी और भौगोलिक पारिस्थिकी से भी प्रभावित होती है। फिर भी यह कह सकते हैं कि इसमें कुछ सामान्यताएं और विशिष्टताएं परिलक्षित की जा सकती हैं। सामान्यताओं में परिवार, रिश्तों का ताना-बाना, जाति और स्तरीकरण हैं। जबकि विशिष्टताओं में पहाड़ और रेगिस्तान में बसाहटों का बिखराव है। इसके साथ ही रोजगार के लिए पलायन एक हद तक सामाजिक संरचना को प्रभावित करता है।

गांव की भी प्राथमिक इकाई परिवार है। इधर के दशकों में संयुक्त परिवार के विघटन की प्रक्रिया गांव में भी जारी रही है और यह क्रमशः विखंडित और एकल

होता गया है। फिर भी पारस्परिक पारिवारिक रिश्तों की एक हद तक भूमिका है। परिवार के बुजुर्ग मुखिया का प्रभाव घटा है लेकिन इसकी नैतिक प्रतिष्ठा लगभग बरकरार है। जाति विरादरी का ताना-बाना लगभग यथावत है और यह परिवार को अपनी तरह से प्रभावित करता है। गांव की बसावट, गली, मौहल्ले और थोक (टोले) पारंपरिक रूप से जाति आधारित हैं एवं इनमें अधिक बदलाव नहीं हुआ है। थोक, कुटुम्ब या कुनवे का विस्तारित रूप हैं और इसकी परिधि में आने वाले परिवारों के संबंध ज्यादा घनिष्ठ हैं।

तेजी से बदलती हुई सामाजिक संरचना में समुदाय का अर्थ क्या है? एक केन्द्रीय प्रश्न होने के बावजूद अभी तक इस पर ज्यादा चिन्तन नहीं किया गया। इसे परिभाषित या विश्लेषित करने की बजाय इसे परिकल्पित कर लिया गया है। समाजशास्त्र की शास्त्रीय अवधारणाओं में समुदाय का जिक्र एक ऐसे समूह के रूप में है जो अपने उद्देश्यों तथा जरूरतों को परस्पर मिलकर समग्र रूप में निपटाते हैं। इसके सदस्यों का पूरा जीवन यहां गुजरता है - वे यहां अपने तमाम सामाजिक संबंध बनाते और महसूस करते हैं जबकि इसके बाहर उनकी जिन्दगी की साझी जरूरतें काफी कम होती हैं। इस मायने में गांव, शहर तथा जिला एक तरह का समुदाय बनाते हैं। एक समुदाय का नाम पाने के लिए यह जरूरी है कि समूह से जुड़ा हुआ स्थान (उनके जीने की जगह) अन्य जगहों से अलग हो। समूह से जुड़े हुए स्थान का कुछ मतलब हो- उस दायरे में उनके उद्देश्य पूरे होते हों।

उत्तर स्वाधीनताकालीन विकास के विमर्श में समुदाय एक केन्द्रीय अवधारणा रही है जबकि उस समय 'समुदाय' पहली बार जनतांत्रिक तौर से चुनी गयी सरकार के लिए नया 'परिकल्पित समुदाय' था। योजनाकारों और नीति-निर्माताओं ने सामुदायिक विकास योजनाओं के जरिए, जहां समुदाय की अवधारणा गांव पर लागू होती थी, कृषि आधारित अर्थतंत्र तथा ग्रामीण समाज की पुनर्रचना की परिकल्पना की थी। इस बात की योजना तैयार की गई कि एक नियोजित सामाजिक व आर्थिक बदलाव की प्रक्रिया के जरिए ग्रामीण परिदृश्य में, इनके सपनों का एक 'परिकल्पित समुदाय' उभर सके। सहयोग तथा परस्परता के साथ-साथ बंटवारा और पदानुक्रम वह सिद्धान्त और आदर्श थे जिनके ताने-बाने से भारतीय गांव परम्परागत रूप से संगठित हुए थे। इस नये ग्रामीण समुदाय में, विभाजक सिद्धान्तों को और ज्यादा कल्याणकारी जुड़ाव और एकता के पक्ष में निकाल बाहर किया जाना था जो कि जाति, वर्ण तथा धार्मिक अलगावों से परे होता।

हम सब इस कष्टकारी सत्य से परिचित हैं कि 'परिकल्पित समुदाय' कभी भी वास्तविक नहीं हुआ। इसके विपरीत मौजूदा असंगत संरचना और मजबूत हुई। स्थापित कुलीनों ने लोक संस्थाओं पर जकड़नपूर्ण नियंत्रण स्थापित कर लिया तथा इनको एक पुनर्निर्माण और संभागी एजेंसियों के तौर पर निष्क्रिय कर दिया। सामुदायिक

विकास कार्यक्रमों में अन्तर्निहित पूर्व - मान्यताओं के विपरीत, गांव में पदानुक्रम को बनाने वाले विभाजक किस्म के तत्व आगे आए हैं और उन्होंने प्रभुत्वशाली तथा अधीनस्थ भागों के बीच सहूलियत और फायदे के द्वन्द्व को बल प्रदान किया है तथा अन्तर्विरोधों को पहले से और ज्यादा तीखा किया है। ऐसी स्थिति में वहां कोई साझा प्रयास, कोई संगठन नहीं रह पाता है, कोई संयुक्त एजेन्डा नहीं रह पाता है, सर्व-शुभ हेतु कोई उद्देश्य नहीं रह पाता जो कि विकासात्मक प्रक्रिया को निर्देशित करे। तब वहां की ग्रामीण सामाजिक संरचना के भीतर समानता तथा न्याय के लिए कोई भी मानक स्थापित नहीं हो पाता।

कुल मिलाकर वहां कोई ऐसी राजनैतिक पुनर्परिभाषा बनती हुई नहीं दिखती है जो ग्रामीण समुदाय के जाति और गुट की संकीर्ण समझ के बाहर 'गांव विशेष की' कोई ऐसी व्यापक श्रेणी सामने लाए जो अपनी एकता की सीमा को वहां तक विस्तार दे, जिसमें गरीब, निम्न जाति तथा आदिवासी सब शामिल हो सकें। इसके विपरीत पुराने समूह आधारित मूल्य एवं एकता और खेतिहर समूह, कुटुम्ब व जाति के प्रति निष्ठा इत्यादि का बिखराव एवं क्षय होता जा रहा है। सबसे बुरा यह है कि वे एक ऐसी खण्डित राजनीति में समेट लिए गए हैं जो कि ताकतवरों की राजनैतिक और आर्थिक शक्ति को और बढ़ाती है।

पिछले दो दशकों में 'विकास' के संदर्भ में 'समुदाय' की अवधारणा की जबर्दस्त वापसी हुई है। एक बार फिर से 'ग्रामीण' समुदाय को हस्तक्षेप के तौर पर चुना गया है। समुदाय के विकास में समुदाय की भागीदारी का एक बदलाव देखने को मिलता है। पहले की सामुदायिक विकास की समझ और अब की भागीदारी वाले विकास की दृष्टि, आकार तथा दायरे के बीच कोई तुलना नहीं हो सकती है। समुदाय की भागीदारी की अवधारणा सामुदायिक विकास की अवधारणा से काफी कम महत्वाकांक्षा वाली है। प्रत्यक्षतः उद्देश्य यह है कि जो विकास से 'बाहर' रह गए हैं उनको ऐसी एकीकृत योजनाओं, जो जनता को परिवर्तन का एजेन्ट मानती हैं, के जरिए इसमें शामिल करना है। विकेन्द्रीकरण पर नया सर्वसम्मत जोर स्पष्टतः अर्थतंत्र के संरचनात्मक समायोजन की प्रक्रिया से जुड़ा है। सरकार, वित्तीय एजेंसियां, वित्त दाताओं, नागरिक समाज के विभिन्न पात्र, जैसे गैर-सरकारी संगठन तथा विश्व बैंक जैसी बहुआयामी एजेंसियां और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष इन सबके विकास के अपने पसंदीदा मॉडल से बराबरी का लगाव है जो कि जन सहभागिता के जरिये चिरस्थायी बन सकता है।

सामुदायिक सहभागिता के स्वरूप और प्रकृति के दृष्टिकोण को लेकर एक बड़ा भ्रम है। यह कार्यक्रम में जनता की स्वैच्छिक भागीदारी जैसी सीमित संकल्पना से 'अपने खुद के संगठन द्वारा निर्णय लेने की प्रक्रिया में संलग्नता' जैसे वृहत और अति महत्वाकांक्षी संकल्पना या कार्यक्रम में 'स्व संचालित' गतिविधि

इत्यादि हैं। इसलिए भागीदारी का जो नक्शा उभर रहा है वह निष्क्रिय तथा /या सीमित भागीदारी से एक सक्रिय भागीदारी और स्वयं को गतिशील करने तक की समूची सीमा तक फैल चुका है। यह महत्वपूर्ण है कि सामुदायिक विकास कार्यक्रम की समझ के विपरीत कोई ठोस प्रचलन और परम्परा समुदाय में अपने आप में न तो परिभाषित है और न ही परिकल्पित है। दरअसल नये वैश्विक विमर्श में समुदाय की संज्ञा को संदिग्धता, स्वेच्छाचारिता, अनिश्चितता इत्यादि से चिह्नित किया जाता है और यह विभिन्न प्रकार के संबंधित निजी हितों के एजेंडों के लिहाज से ठीक बैठता है। बहुधा इसे एक ऐसे लक्षित समूह, जो कि कार्यक्रम निर्माताओं द्वारा पहले से ही परिभाषित कर दिए गए होते हैं, के लिए एक संक्षिप्त संज्ञा के तौर पर इस्तेमाल किया जाता है।

समुदाय के वर्तमान बोध में शारीरिक आक्रमकता का एक शक्तिशाली तत्व विद्यमान है। जबकि समुदाय की सामूहिकता, स्थानिक-कालिक पहचान के रूप में होती है। स्थानिक-कालिक संदर्भ एक जुड़ाव के बोध, एक संगठन और एक सामूहिक पहचान की भावना का निर्माण करते हैं, जिसे समुदाय को परिभाषित करने के लिए आवश्यक माना जाता है।

अन्तर्संबद्धता के आधार पर समुदाय की अवधारणा के संदर्भ में ये स्वीकारना पड़ेगा कि समुदाय के भीतर पाया जाने वाला दृश्य और ठोस जुड़ाव लोगों को अपनी ओर आकर्षित करता है। यह आकर्षण परिवर्तनशील होता है, अतः समुदाय कभी स्थायी नहीं हो सकता। यह आन्तरिक रूप में स्तरीकृत एवं परिवर्तनशील होगा जिससे इसकी परिभाषा एवं इसका नामकरण संभव नहीं हो पाएगा क्योंकि किसी एक नाम का चुनाव कुछ लोगों को अपने में जान-बूझकर सम्मिलित नहीं कर पाएगा। यदि यह चुनाव सोच-समझ कर किया गया हो तो समुदाय की अवधारणा की प्रासंगिकता केवल खास संदर्भ में होगी। बेहतर यह रहेगा कि उसे एक हित समूह के रूप में जाना समझा जाए। समुदाय की अवधारणा को इससे ऊपर उठना होगा। इसके लिए हमें समरूपता की मांग से और आगे बढ़ना होगा।

माक्सवादी विचारणा 'समुदाय' को एक पारंपरिक इकाई मानती है। यह समूह की वर्गीय संरचना के विखंडन और निम्नवर्गीय समूहों की एकबद्धता पर जोर देती है। यदि ये निम्नवर्गीय समूह (सर्वहारा) वर्गीय चेतना से लैस हों तो रेडिकल परिवर्तन में ऐतिहासिक भूमिका निभा सकते हैं। किन्तु उत्तर भारत के ग्रामीण समुदायों को वर्गीय आधार पर संगठित करने और उनमें परिवर्तनकारी चेतना विकसित करने में माक्सवादी प्रयास सफल नहीं हुए। यहां श्रमिकों के असंगठित क्षेत्रों में माक्सवादी हस्तक्षेपों की जगह नहीं बन पाई। इसका कारण शायद ये भी रहा है कि ये विश्रुंखिल और अस्थिर समुदाय थे।

समुदाय का एक और बुद्धिवादी-उत्तरवादी सृजन संभव है। इस स्थिति में समुदाय को अपनी भौतिक सामूहिकता की इस दृष्टिगत पहचान के ऊपर उठना होगा जिसमें चुनाव की स्वतंत्रता एवं बुद्धिपरक बोध के रूप में व्यक्ति की क्षमता का अर्थ मात्र सामाजिक-भौतिक प्रतिनिधित्व के रूप में होता है। स्थानिक-कालिक, सांस्कृतिक या समरूपता किसी भी प्रकार से सर्व सहमति की शर्त नहीं बन पाएगी। सभी मतभेदों के बावजूद एक साझा समझ विकसित हो सकती है, क्योंकि व्यक्तियों की सार्वजनिक एवं निजी दुनिया को व्याख्यायित करने, चुनने एवं उससे संबंध स्थापित करने की क्षमता में हुए विकास से इसमें सहायता ले सकती है। हित की चिन्ता समुदाय को पूर्णतः समझने या व्याख्यायित करने में सक्षम नहीं है। मूल्य बोध इसके लिए आवश्यक है। वह क्षमता, जिससे विशेष एवं सामान्य में, व्यक्तिनिष्ठता एवं निर्व्यक्तिता में तालमेल बैठ सके, जो अभिव्यक्त मूल्यों की चेतना की भूमिका का निर्माण करती है एवं जिससे 'अन्य' को निज समझने की क्षमता का विकास होता है। इससे समुदाय का निर्माण होता है।

इस प्रकार समुदाय का तात्पर्य समूह के बजाय सामूहिक संप्रेषण होता है। समुदाय समान रूप से संप्रेषित करने की क्षमता है। इसकी उत्पत्ति तभी संभव है जब सबको अपनी क्षमता को विकसित करने का समान अवसर प्रदान किया जाए। अंतिम विश्लेषण में, समुदाय का तात्पर्य समान क्षमता एवं समान स्वतंत्रता विकसित करना या उसके लिए प्रयास करना है। इसलिए समुदाय का मतलब परिभाषित कार्य-सूची पर सर्व-सहमति न होकर, इससे भी बढ़कर विविध कार्य सूचियों को विवेक के आधार पर स्वीकार करने से होगा। विवेकशील आधार का संप्रत्यय मौटे तौर पर मानवीय मूल्यों, जैसे - स्वतंत्रता, न्याय, समानता, मतभेदों को अपने स्तर पर दूर कर लेना, भिन्नता होते हुए भी जुड़े रहने की सर्व सहमति को परिलक्षित करता है।

शिक्षा में समुदाय की भागीदारी

समुदाय की भागीदारी के उभरते परिदृश्य तथा शिक्षा के सार्वजनिकरण के प्रयासों की अनवरत असफलताओं के परिप्रेक्ष्य में कोई इसे शैक्षणिक रणनीतियों के तौर पर क्या समझ पाएगा ? जरूरत है कि इसकी सीमाओं को समझा जाये, इसके सच्चे स्वरूप को उजागर किया जाए। इसे उन वृहत् परिप्रेक्ष्यों से जोड़ा जाए जिनका कि पूर्व में हमने जिक्र किया है।

वर्तमान शैक्षिक संदर्भ में समुदाय की भागीदारी की आधारभूत सीमाएं हैं - संदर्भहीन और अरुचिकर ढंग से समुदाय की अवधारणा की व्याख्या एवं अनुप्रयोग, जो उन वृहत्तर सामाजिक प्रक्रियाओं को समाजशास्त्रीय ढंग से समझने का कोई प्रयास नहीं होने दे रही हैं जिन्होंने ग्रामीण एवं शहरी परिप्रेक्ष्यों में समुदायों के विखंडीकरण का सूत्रपात किया। बढ़ती विषमताओं, असमानताओं,

अस्थिरताओं, जरूरतों में परस्पर द्वन्द्व तथा आवागमन आदि ने सामुदायिक भावनाओं को ग्राम, जाति, वर्ण तथा कुटुम्ब के स्तर तक विखंडित किया। नृजातीय आदान-प्रदानों को केवल अपने जीने हेतु बनाए रखा गया। विच्छिन्न, साधनहीन तथा राजनैतिक रूप से अशक्त हमारे समाज के विभिन्न समूहों से समुदाय के रूप में बने रहने की सामर्थ्य एवं इच्छा होने की उम्मीद करना व्यर्थ है। नव राजनैतिक विमर्श में अभी भी बिना ध्यान दिए परस्पर भागीदारी व स्व-सहायता बने एक अस्पष्ट एवं अस्थिर समुदाय की बात की जा रही है। यह केवल मान लिया जाता है कि कोई ऐसा 'समुदाय विशेष' अपनी समानताओं व जरूरतों की एकरूपताओं के साथ विद्यमान है जिसे क्रियाशील किया जा सकता है। नये शैक्षिक कार्यक्रम किस प्रकार तथा किस हैसियत से 'समुदाय विशेष' को भागीदार के रूप में देख रहे हैं? समुदाय के संबंध में तथा शैक्षिक प्रचलनों के लिखित वर्णनों में इसे प्रायः निम्न में से एक या अधिक रूप में देखा जाता है -

- लक्ष्य (लाभान्वित होने वाला समूह),
- जागरूकता एवं वातावरण निर्माण के प्रतिनिधि के रूप में,
- विकेन्द्रीकृत प्रबंधन के प्रतिनिधि के रूप में जिसे व्यवस्था, रख-रखाव एवं देखभाल आदि की जिम्मेदारी दी गई है या,
- बाहरी सहायता द्वारा चलाए जा रहे उच्च स्तरीय शैक्षिक कार्यों के एक मुकुम्मल प्रतिनिधि के रूप में।

समुदाय के विघटनकारी स्वभाव तथा राज्य पर हावी राजनैतिक दबाव के चलते ऊपर लिखित सामुदायिक आदान-प्रदान कहां तक संभव हो पाता है? कई बार ऊपर से यह जनता की भागीदारी तथा निर्णय का प्रतीक है पर दरअसल यह राज्य द्वारा प्राथमिक शिक्षा के बोझ का अस्पष्ट रूप से समुदाय पर स्थानान्तरण ही दर्शाता है। सरकार जन शिक्षा की जिम्मेदारी से तो हटना चाहती है परन्तु शैक्षिक व्यवस्था पर नियंत्रण नहीं छोड़ना चाहती। अतः यह एक विसंगति ही है कि समुदाय की भागीदारी आखिरकार सरकारी नियंत्रण का ही एक साधन बनकर रह गयी है। शिक्षा के निजीकरण एवं बाजारीकरण के परिप्रेक्ष्य में, सामुदायिक भागीदारी का दर्शन जन शिक्षा के संदर्भ में सरकार के बदलते राजनैतिक दर्शन एवं क्रियाकलापों को ही न्यायसंगत बनाने में लगा प्रतीत होता है। ऐसा लगता है कि इसका उद्देश्य संघर्ष रहित 'सामंजस्य बनाना' है - उनके साथ सामंजस्य एवं सहभागिता जिनकी वजह से सही उद्देश्यों को त्यागना पड़ता है या हानि होती है।

इस प्रक्रिया में समुदाय और सरकार एक दूसरे के लिए 'अन्य' बन जाते हैं। शिक्षा राज्य का कल्याणकारी पैकेज बन जाती है, समुदाय के सीखने का माध्यम नहीं बन पाती संप्रभुतापूर्ण वातावरण में विद्यालय औपनिवेशिक संस्कृति को बनाए रखने और आगे बढ़ाने का जरिया बन जाते हैं। यह यथास्थितिवाद की कार्यशाला

बनकर एक ही सांचे में ढलकर निकलने वाले बच्चों का निर्माण करती है। जब तक कि विद्यालय की सत्ता के ढांचे में इसको एक सामुदायिक संस्था के रूप में पुनर्निर्मित करने के लिए बदलाव नहीं होगा तब तक विद्यालय में सीखने की गुणवत्ता में गंभीर समस्याएं मौजूद रहेंगी।

शिक्षा के संदर्भ में सामुदायिक भागीदारी की समस्या के दो और भी आयाम हैं। एक शिक्षा की प्रकृति से संबद्ध है। विकास के दूसरे कार्यक्रमों का प्रतिफल अपेक्षाकृत जल्दी प्राप्त होता है जबकि शिक्षा के प्रतिफल प्रायः ही देर से मिलते हैं और उन्हें (अभिभावकों या गांव वालों को) नहीं मिलते जो उसमें अपनी तरह से अवदान देते हैं बल्कि शिक्षार्थी को मिलते हैं। इससे समुदाय की सक्रियता बाधित होती है। दूसरा आयाम लोगों के वर्ग-हितों से जुड़ा है। विद्यालयों की भिन्नताओं (सरकारी व निजी स्कूल) ने वर्चस्वशाली और वंचितों के शैक्षिक हितों में गहरा विभाजन उत्पन्न कर दिया है। वर्चस्वशाली विपन्नों की शिक्षा के प्रति वास्तव में गंभीर सरोकार नहीं रखते, वे इसका दिखावा मात्र करते हैं जबकि विपन्न इस लिहाज से सशक्त नहीं हैं कि वे इस प्रक्रिया में सक्रिय भागीदारी कर सकें। यही वह क्षेत्र है जहां नागरिक समाज (स्वयंसेवी/गैर सरकारी संगठन) हस्तक्षेप कर सकते हैं।

शिक्षा की एक प्रक्रिया के रूप में विशिष्टता के चलते समुदाय की भागीदारी वस्तुतः उस तरह संभव नहीं है जैसी कि अपेक्षा की जाती है। समुदाय से पहले इसमें शिक्षक और बच्चों की भागीदारी की आवश्यकता है। दूसरी ओर समुदाय के बीच ऐसे हस्तक्षेपों की जरूरत है जो उन्हें तार्किक संवाद और निर्णय क्षमताओं के लिए सक्षम बनाएं। पहली प्रकार की आवश्यकता शिक्षा के आन्तरिक चरित्र के जनतांत्रिकरण की मांग करती है ताकि यह औपनिवेशिकता से मुक्त हो। दूसरी आवश्यकता के लिए वंचित और हाशिए के समुदायों में अधिकार चेतना का विस्तार होना है।

समुदाय और नागरिक समाज

नागरिक समाज की पहलों पर सामुदायिक संगठन (अथवा समुदाय आधारित संगठन) खड़े किए जाते हैं। लेकिन ज्यादातर मामलों में ये भी उनके कार्यक्रम क्रियान्वयन की रणनीति का हिस्सा होते हैं अन्यथा अपने लक्ष्य व उद्देश्यों की आसान तरीके से पूर्ति करने के लिए वे इनका सहारा लेते हैं। यदि स्थानीय समुदायों के सशक्तिकरण अथवा उनमें जनतांत्रिक विवेकशीलता और अधिकार चेतना उत्पन्न करने के उपक्रम के तौर पर उनके हस्तक्षेपों को देखा जाएगा तो इसमें निम्न पहलुओं पर उनकी प्रतिक्रियाएं परिलक्षित होनी चाहिए:

- समाज एक गतिशील इकाई है और यह सभी प्रकार की सोच रखने वाले लोगों से मिलकर बना है। कुछ लोगों के निर्णय सभी के जीवन पर सकारात्मक या नकारात्मक

प्रभाव डाल सकते हैं। प्रायः दूसरे के बारे में लिए गए निर्णय के परिणामों की जिम्मेदारी वे लोग नहीं लेते जो अन्य लोगों के बारे में निर्णय ले लेते हैं। अंत में किसी और के निर्णयों के नतीजे किसी और को सहन करने होते हैं जो किसी भी प्रकार से जनतंत्र के ढांचे के उपयुक्त नहीं कहा जा सकता।

- स्थानीय स्तर पर भी लोगों में निर्णय कर पाने और उनका निर्वाह कर पाने की सामर्थ्य होती है।
- एक ऐसा संगठन या संस्था जो सामाजिक या आर्थिक विकास की अगुवाई करना चाहता है, वह सभी वर्गों की भागीदारी विकास की प्रक्रिया में होने की बात को स्वीकार किए बिना सफलता का दावा नहीं कर सकता।
- किसी भी समुदाय में किसी न किसी रूप में एक व्यवस्थित संगठन होना अनिवार्य है जो नेतृत्व की क्षमता का प्रदर्शन कर सके और जिम्मेदारी उठा सके। ऐसे संगठन के लिए जमीनी तैयारी होना आवश्यक है जो संगठन के लिए मार्गदर्शन प्रदान कर सके।
- समुदाय स्तर पर आने वाली समस्याओं के स्थानीय हल ही ज्यादा कारगर साबित होते हैं और ऐसे हल निकालने के लिए भी किसी ऐसे समूह का होना जरूरी है जो परिस्थिति को पूरी तरह से समझकर समस्याओं के समाधान के लिए समुदाय को राह दिखा पाए। इस प्रकार के समाधान विकेंद्रित व्यवस्था में ही संभव हो पाते हैं जो ऊपर से नीचे जाने की बजाय नीचे से ऊपर की ओर जाती है।

जब एक बार यह बात स्वीकार कर ली जाती है कि समुदाय स्तरीय संगठन होने की आवश्यकता है तो अगला प्रश्न यही उठेगा तो फिर ऐसे संगठन का स्वरूप क्या होगा? क्या कुछ लोगों के समूह को हम समुदाय स्तरीय संगठन कह सकते हैं? क्या गांव में विद्यमान सभी प्रकार के संगठन सामुदायिक संगठन की श्रेणी में रखे जा सकते हैं? ये प्रश्न इसलिए स्वभाविक रूप से उठते हैं क्योंकि जैसा पूर्व में कहा गया, समुदाय की अवधारणा में परिवर्तन होते रहे हैं तो इनके संगठन की अवधारणा भी प्रभावित होगी।

सामुदायिक विकास की जटिल प्रक्रिया के मद्देनजर अन्तर निर्भर समूहों के निर्माण भी प्रस्तावित किए जाते हैं। इस विचार के अनुसार किसी महत्त्वपूर्ण कार्य को करने के लिए अन्तर्व्यक्तिक निर्भरता की आवश्यकता होती है। जो लोग अक्सर एक-दूसरे को सहयोग करते हैं, वे एक समूह का रूप ले लेते हैं। सामूहिकता की भावना इस समूह को सुदृढ़ और प्रभावी बना देती है। समूह भावना से समूह के हर सदस्य को खुला और सहभागी वातावरण मिलता है। समूह का प्रत्येक व्यक्ति सामूहिक वांछित लक्ष्यों को पाने के लिए

तन्मयता से काम करता है। सभी व्यक्ति आपस में एक-दूसरे का हाथ बंटाते हैं और अपने निजी स्वार्थों को एक तरफ रख देते हैं।

एक आदर्श समूह में प्रत्येक व्यक्ति को कार्य सीखने व नेतृत्व का अवसर मिलता है। हर सदस्य अन्तर वैयक्तिक कौशल सीखता है। समूह का प्रत्येक व्यक्ति स्वयं को सक्षम समझता है तथा यह मानता है कि समूह के लक्ष्यों की प्राप्ति में उसका महत्त्वपूर्ण योगदान है। समूह में उसका विशिष्ट स्थान व भूमिका है। ऐसे समूह की बैठकों व अन्य क्रियाकलापों में सभी लोग स्वयं को सहज अनुभव करते हैं। इससे सीधा और प्रभावी संवाद स्थापित होता है और आपस में विश्वास पनपता है। समूह के सदस्य लक्ष्यों को पाने के लिए नपे-तुले जोखिम लेने को भी सहर्ष तैयार रहते हैं। वे अपने में उन क्षमताओं को विकसित करते हैं जो इन चुनौतियों को स्वीकारने में सहायक हों।

समूह के सभी लोग मिलकर समस्या-समाधान करते हैं तथा सहभागिता से निर्णय लेते हैं। सभी सदस्यों द्वारा स्वीकृत निर्णयों को सभी सदस्य सम्मान और सहयोग देते हैं। सदस्य स्वयं अपनी व समूह की कमजोरियों और गलतियों को मिलजुल कर आकलन करते हैं। इसमें कमजोरी या गलती के लिए किसी व्यक्ति विशेष को जिम्मेदार नहीं ठहराते हैं। अन्तर वैयक्तिक क्रिया-कलापों से सृजनात्मकता का विकास होता है और नए विचार उत्पन्न होते हैं। समूह द्वारा अपने क्रियाकलापों में अच्छे विचारों को सम्मिलित कर लिया जाता है। समूह द्वारा ऐसे विचारों की सराहना की जाती है।

हालांकि ग्रामीण समाज की धूसर और ऊबड़-खाबड़ व कंकरीली-पथरीली जमीन पर ऐसे सामुदायिक समूह की कल्पना एक यूटोपिया ही लगती है। फिर भी जनतंत्र और शिक्षा का ध्येय भी अंततः इसी दिशा की ओर है।

अन्ततः हित समूह एक दीर्घकालिक समुदाय का रूपाकार नहीं ले सकते और अन्तर निर्भर समूहों के आदर्श पर भी बहुत ज्यादा भरोसा नहीं किया जा सकता। समुदाय की जनतांत्रिक अवधारणा बुद्धिवाद और अधिकार चेतना पर ही आधारित हो सकती है। यदि इस अवधारणा को अनुपयुक्त किया जाता है तो इससे हित समूहों का आधार डगमगा सकता है क्योंकि इसकी प्रकृति द्वन्द्वात्मक है। जाति, जनजाति, धर्म और लिंग-आधार समूहों की संरचना में अन्तर्निहित अन्तर्विरोधों को भी यह अवधारणा प्रश्नित करती है। अस्मितावाद ऐसे समुदायों को संगठित करने के प्रारंभिक चरण में ही यहां कोई भूमिका निभा सकता है। इससे आगे जब वैयक्तिक गरिमा, स्वातंत्र्य, समता और बन्धुत्व के मूल्य अधिकार-चेतना में सक्रिय होंगे तो अस्मितावाद की सीमाएं भी उजागर होने लगेंगी। इसके मायने हैं - समुदाय की संरचना और कार्यशैली में तार्किकता और आलोचनात्मक चिन्तन को समाहित करना होगा। स्वभाविक रूप से ये जनतांत्रिक शिक्षा की संगति में हैं।

अल्पसंख्यक समुदाय और शिक्षा

अल्पसंख्यक समुदायों, विशेषकर धार्मिक अल्पसंख्यक समुदायों के बारे में सामान्यतः ये धारणा है कि इनमें एक आवयविक एकता और समरूपता पाई जाती है। हित समूह के रूप में भी ये अपेक्षाकृत सुदृढ़ इकाई माने जाते हैं। जबकि समाजशास्त्रीय अध्ययन इन धारणाओं को भ्रामक ठहराते हैं। वे इनकी एकता के पीछे अक्सर बाडेबंदी या कवचीय आवरण को पाते हैं, समरूपता की बजाए अनेक स्तरीय विषमता देखते हैं और हित समूहों की संरचना में सांस्कृतिक अस्मिता का निर्णायक कारक ठहराते हैं। इनके धार्मिक प्रवक्ता वास्तव में इनका सही प्रतिनिधित्व नहीं करते क्योंकि वे प्रायः इन समुदायों की धर्म-आधारित पहचान के मुद्दों को ही प्रमुखता देते हैं। मुस्लिम आबादी में मदरसों के व्यापक विस्तार और इनमें दुनियावी तालीम के कथित दावों के बावजूद सच्चर समिति द्वारा बटोरे गए आंकड़ों से इस समुदायों की शैक्षिक बदहाली सामने आ गयी है। ऐसी स्थिति में अल्पसंख्यक समुदायों के प्रति संवैधानिक दायित्वों को पूरी तरह महत्व देते हुए भी कुछ मामलों में सरकार को समझौते नहीं करने चाहिए। कम से कम चार कारणों से जनतांत्रिक व्यवस्था को अल्पसंख्यकों के शैक्षिक अधिकारों के प्रति सतर्क रहना चाहिए। पहला तथा चौथा कारण उदारता संबंधी चिन्ता का है और दूसरा तथा तीसरा कारण नागरिक-व्यवस्था से संबद्ध है।

1. शिक्षा बच्चों की विचार करने एवं स्वयं निर्णय करने की क्षमता को विकसित करने तथा बढ़ाने की जगह कुठित और दमित कर सकती है। यह तथ्य बच्चों के स्वायत्त विकास में बाधक हो सकता है। जनतंत्रीय सरकार को, बच्चों के भावी स्वायत्त विकास की रक्षा के प्रति अपने उत्तरदायित्व के कारण, ऐसी शिक्षा से उनकी रक्षा अवश्य करनी चाहिए। यदि बच्चों की भावी स्वतंत्रता की संरक्षा की आवश्यकता नहीं है तो अभिभावकों की वर्तमान स्वतंत्रता (जैसे - पैतृक अधिकार, धर्म की स्वतंत्रता, आदि) की संरक्षा की आवश्यकता क्यों होनी चाहिए ?
2. कोई बच्चों को ऐसी शिक्षा दे सकता है कि वे अन्य प्रकार की जीवन-शैलियों तथा विश्वासों के प्रतिनिधियों के प्रति असहिष्णु हो जाएं; अथवा अन्य समुदायों को जो चीजें प्रेरणा देती हैं, उनके संबंध में वे अज्ञानी रह जाएं। इससे बच्चों में असहिष्णुता और समझ की कमी उत्पन्न होगी। ऐसी शिक्षा बहुलवादी जनतांत्रिक व्यवस्था के विपरीत होती है।
3. जनतांत्रिक व्यवस्था की एक महत्वपूर्ण विशेषता व्यापक राजनैतिक प्रक्रिया में भाग लेने का हरेक को अधिकार होता है। इन प्रक्रियाओं में सार्थक तरीके से भाग लेने के लिए कुछ कौशल एवं अन्तर्दृष्टि और कुछ सामान्य ज्ञान

तथा संदर्भित मसलों के ज्ञान की जरूरत होती है। बच्चे ऐसे कौशल और ज्ञान किसी जादू से प्राप्त नहीं करते हैं। इसके लिए वे शिक्षा पर ही निर्भर होते हैं। जब शिक्षा व्यवस्था पर सार्वजनिक या लोक की सत्ता का अधिकार कम होता है तो सभी बच्चों को पर्याप्त ज्ञान के अवसर प्राप्त नहीं होने का खतरा उत्पन्न हो जाता है। ऐसी स्थिति में जनतांत्रिक व्यवस्था का भविष्य दांव पर लग जाता है।

4. तकनीकी संस्कृति तथा जटिल समाज व्यवस्था में शिक्षा आधारभूत जरूरत होती है। शिक्षा के बिना ऐसी व्यवस्था में जीवनयापन कठिन है। अतः पर्याप्त ज्ञान मनुष्य का मौलिक अधिकार है। अन्तर्राष्ट्रीय संधियों जैसे आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक अधिकारों के बारे में अन्तर्राष्ट्रीय करार एवं बाल अधिकारों के संबंध में समझौतों के अनुसार बालकों को भी यही अधिकार प्राप्त हैं। उदार जनतांत्रिक व्यवस्था में सरकार को प्रत्येक बच्चे की आधारभूत जरूरतों को पूरा करने के संबंध में चिन्ता करनी चाहिए। शैक्षिक सत्ता का परित्याग करने पर यह कार्य समुचित तरीके से पूरा नहीं किया जा सकता।

इस संदर्भ में कहना होगा कि बहुसंख्यक अस्मिता आधारित समुदायों और ऐसे संगठनों द्वारा संचालित विद्यालयों के मामले में भी राज्य की ऐसी सचेतनता उतनी ही आवश्यक है जो वास्तव में जनतांत्रिक मूल्यों की बजाय किन्हीं मताग्रहों द्वारा संचालित किए जाते हैं। ◆

संदर्भ

1. अमिता शर्मा - शिक्षा की धारणा : ज्ञानमीमांसीय द्रष्टृ और शैक्षणिक सुधार, शिक्षा विमर्श-अक्टूबर-नवम्बर, 2002
2. पद्मा वेलासकर - शिक्षा में समुदाय की भागीदारी-एक आलोचना, शिक्षा विमर्श-अप्रैल-मई, 2003
3. पीट वानडेर प्लोग - अल्पसंख्यकों के अधिकार और शैक्षिक सत्ता, लोकतंत्र, शिक्षा और विवेकशीलता, आधार प्रकाशन, पंचकुला, हरियाणा
4. राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा : 2005